

## दबाव में महानगर :

## उछाल में 'भूमिपुत्र'

यह लेख तब लिखा गया और छपा था जब मुंबई में रहनेवाले बाहरी, खासकर उत्तर भारतीयों पर, अपराधिक दबाव बढ़ रहा था, झारखंड एवं अन्य जगहों पर भी इसी तरह की हवा बह रही थी...



प्रफुल्ल कोलख्यान

भारत में बढ़ती हुई आबादी एक समस्या है। उससे बड़ी समस्या है आबादी का कुप्रबंध। नगर-केंद्रिक विकास का गलत ढाँचा। विकास के नगर केंद्रिक होने के कारण शहरी आबादी में निरंतर तीव्र वृद्धि के रुझान बनते रहे हैं। इस रुझान के कारण महानगरों पर आबादी का अनुत्पादक भारी दबाव बढ़ रहा है। यह अनुत्पादक दबाव इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि सचमुच नगर प्रबंध असंभव होता जा रहा है। नागरिक सुविधाओं का प्रवाह बाधित हो रहा है, फिर चाहे वह प्रवाह पानी का हो, बिजली का हो, शिक्षा का हो, आवागमन का हो, सफाई या अस्पतालों से ही जुड़ा क्यों न हो। इस दबाव को कैसे कम किया जा सकता है, यह हमारी चिंता का एक प्रमुख कारण होना चाहिए। जल, जमीन, जंगल और आजीविका से बेदखल लोग रोजगार की तलाश में चिंटियों की तरह कतार बाँधकर महानगर की ओर आते हैं। चिंटियों को दूसरी तरफ मोड़ने के दो उपाय हैं। पहला यह कि गुड़ को उस जगह से हटा दिया जाये। दूसरा यह कि चिंटियों को मार दिया जाये। गुड़ को हटाने के लिए कोई आसानी से तैयार नहीं हो सकता है। चिंटियों के मारने के लिए हर कोई लपकता है। लेकिन क्या यह इतना सरल मामला हो सकता है, खासकर जब गुड़ का अर्थ रोजगार की संभावना हो और चिंटी का अर्थ आदमी।

शिव सैनिकों की प्रेरणा से 'भूमिपुत्रों' का अभियान मुंबई में शुरू हुआ है। शिव सैनिक इस तरह की प्रेरणाओं के लिए पहले से ही काफी चर्चित रहे हैं।

मीडिया में इसकी चर्चा है। लेकिन मीडिया इसे चुनावी कौशल के रूप में प्रचारित कर इस अभियान के विषदंत को मामूली भी बना रहा है। यह गैर-मामूली बात है। इसे गैर-मामूली ढंग से समझना होगा। वैसे एक बार स्मरण कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'अयोध्या विवाद' का दैत्य भी चुनावी कौशल के रूप में ही प्रकट होकर समाज में विकट हो गया। इसलिए, शिव सैनिकों की प्रेरणा से मुंबई में शुरू हुए 'भूमिपुत्रों' के इस अभियान के भी विकट होने की पूरी आशंका है। यह अभियान इसलिए गैर-मामूली है कि इसका संबंध हमारी सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक बुनावटों से बहुत गहरा है। आर्थिक भूमंडलीकरण और वैचारिक उत्तर-आधुनिकता का संश्रय 'स्थानिकता', 'सामाजिकता', 'जातीयता' और 'राष्ट्रीयता' को एक दूसरे की सहयोजी अवधारणा के उपवन से विचलित कर वियोजी अवधारणाओं के वन में हाँक कर ले जाता है और 'वीरतापूर्वक' एक-एक कर उनका 'शिकार' करता है। इस संश्रय के भारतीय पाठ को 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' जैसे मोहक पद में अंतर्निहित समझा जा सकता है।

सवाल यह है कि किसी महानगर से देश का संबंध और उस राज्य के संबंध में क्या कोई बुनियादी अंतर होता है? क्या मुंबई महानगर मराठियों का और कोलकाता बंगालियों का, चेन्नई तमिलों का ही शहर है? फिर दिल्ली किसका शहर है? क्या किसी राज्य के शहर या उस राज्य के सार्वजनिक संस्थानों पर उस राज्य के मूल वाशिनंदों का ही एकाधिकार होता है? इस तरह के कई मूलभूत प्रश्न आज उत्तर माँग रहे हैं। यह बात बिल्कुल साफ हो जानी चाहिए, ताकि लोगों के मन में किसी प्रकार के भ्रम के लिए कोई गुंजाइश न रहे। किसी शहर या राज्य में कौन भीतरी होता है और कौन बाहरी यह तय हो ही जाना चाहिए। पिछले दिनों झारखंड में 'डोमिसाइल' नीति को लेकर भयंकर तनाव उत्पन्न होता रहा है। देश के अन्य भागों में भी इस तरह के मामले उठते रहते

हैं। अपने मूल राज्य से बाहर रहनेवाले लोगों पर, खासकर बच्चों पर इसका बहुत विपरीत मनोवैज्ञानिक असर होता है। यह मनोवैज्ञानिक असर लोगों को भारत राज्य और राष्ट्र के साथ उनके लगाव का कमजोर बनाता है। मुंबई महानगर हो, कोलकाता महानगर हो या देश का कोई और महानगर या सार्वजनिक संस्थान और संपद हो, सामान्य रूप से समस्त देशवासियों का उस पर समान अधिकार होना चाहिए। निश्चित रूप से यह समान अधिकार निःशर्त नहीं हो सकता है। उसकी शर्तें हमारे संघात्मक ढाँचे से तय होनी चाहिए न कि 'भूमिपुत्रों' के हठ से। संघ सरकार को हर हाल में यह सुनिश्चित करना चाहिए कि दूसरों के मौलिक अधिकार के हनन करनेवाले ऐसे वक्तव्यों और इसके पीछे सक्रिय व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह अथवा दल को तुरंत कानून के घेरे में लेने की व्यवस्था की जाती है।

महानगर पर दबाव बढ़ रहा है। इसका उपाय हर किसी को मिलकर करना चाहिए। एक उपाय तो यही है कि विकास की नई परियोजनाओं को प्रतिष्ठित महानगरों से बाहर नये स्थानों पर पर खोले जाने को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। बाजारों के लिए नये नगरों को तैयार करने की संभावनाओं का पता लगाया जाना चाहिए। लेकिन इसके लिए 'भूमिपुत्र' तैयार नहीं होंगे। कोई शौकिया झेपड़पट्टी में या फुटपाथ पर नहीं रहता है। बहुत कठिन और दुर्घर्ष होती है वहाँ की जिंदगी। इतनी लाचारी भरी और बेबस की कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है। हर समय अपने बाहरी – अर्थ-व्यवस्था में बाहरी, शिक्षा व्यवस्था में बाहरी, विकास की हर परियोजना में बाहरी – साबित हो जाने की आशंकाओं से घिरा-घिरा और मन में चोर भाव दबाये आदमी अमानुष होने की ओर तेजी से बह जाता है। माननीय न्यायालय ने निर्णय सुनाया है कि नदी पर अधिकार सिर्फ उसके किनारे रहनेवालों का ही नहीं है। इस निर्णय के पीछे अपनी तार्किकता है। इस तार्किकता से सहमत होते हुए यह समझा ही जा सकता है कि नदी पर अधिकार उसके किनारे रहनेवालों का भी उतना ही है जितना उससे दूर रहनेवालों का। यहाँ मुख्य सवाल यह है कि

क्या महानगरों में रहनेवाले 'भूमिपुत्रों' का ही महानगरों पर पूरा अधिकार होता है? क्या किसी सार्वजनिक संस्थान पर पूरा अधिकार वहाँ काम करनेवाले कर्मचारियों और बाबुओं का ही होता है? इसके पहले कि देश के विभिन्न स्थानों के 'भूमिपुत्रों' की कृपा की कुतार्किकताओं के ताप से मकई के लावे की तरह अपने ही खिलाफ जनाक्रोश फूटने लगे, संवैधानिक संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए। न सिर्फ ध्यान चाहिए बल्कि कठोरता से उसका दमन करना चाहिए। निराशा तब बहुत बढ़ जाती है जब संवैधानिक प्रावधानों को भारतीय राज्य और राष्ट्र के जीवनसूत्र के रूप में भी देखने के बदले उसके प्रति एक प्रकार का यांत्रिक दृष्टिकोण सत्ताधारी वर्ग और दल अपनाने लगता है। हमारे संदर्भ में यही घटित हो रहा है।

मुंबई महानगर मराठियों है। वे इसे गर्व करने लायक बनाना चाहते हैं। इसके लिए 'भूमिपुत्र' सक्रिय हैं। असल बात तो यह है कि सिर्फ मराठी होने से ही कोई 'असली भूमिपुत्र' नहीं हो जाता है। असली होने के लिए उसे शिवसैनिक होना होगा। जैसे हिंदू परिवार में जन्म लेने और पूजा-जाप करने से ही कोई 'असली हिंदू' नहीं हो जाता है। जैसे शिवसैनिकों की नजर में जस्टिस श्री कृष्ण 'असली हिंदू' नहीं थे। असली हिंदू होने के लिए उनका 'अनुयायी' होना होगा, उनके हितों के लिए जान लगा देनी होगी, उनके सच को सच और उनके झूठ को झूठ मानना और बताना होगा। 'राष्ट्रभक्त' होने या नहीं होने का प्रमाणपत्र भी वही जारी करते हैं। राष्ट्र के लिए दिन-रात खून-पसीना बहानेवाले राष्ट्रभक्त हो सकते हैं, लेकिन 'असली राष्ट्रभक्त' होने का प्रमाणपत्र तो वही जारी कर सकते हैं! ताबूत-तहलका में लिप्त होकर 'असली राष्ट्रभक्त' होने का प्रमाणपत्र हासिल किया जा सकता है। शर्त वही अनुयायी होना ही है – एक ही पुकार है ; मामेकं शरणं ब्रज। शरणदाता खुद भले माइकल जैक्सन के दीवाने हों। शरणागत को 'भारतीय संस्कृति' की रक्षा के लिए

‘वैलेंटाइन डे’ के विरोध के नाम पर हर साल कुछ लोगों की ‘बलि’ लेने की कोशिश करनी चाहिए। हर साल कुछ सिनेमा के पोस्टर फाड़ने चाहिए, कुछ न कुछ तोड़-फोड़ करना चाहिए। क्रिकेट की पीच खोदने का अवसर ढूँढ निकालना चाहिए। जब ‘असली राष्ट्रभक्त’ होने का प्रमाणपत्र वही जारी करते हैं तो बहुत ही स्वाभाविक है कि ‘मुंबई भक्त’ होने का प्रमाणपत्र जारी करने का अधिकार भी उन्हीं के पास सुरक्षित है। वे बड़े ‘तर्कशील’ हैं, वे साबित कर देंगे कि राष्ट्र से बड़ा है महाराष्ट्र। महाराष्ट्र के ‘हित’ में राष्ट्र को न्यौछावर करने के औचित्य का निर्वाह करना वे खूब जानते हैं। उनका उत्साह भरपूर है। वे अपने इस अभियान में बड़े लेखकों, कलाकारों को भी जोड़ना चाहते हैं। अपने को ‘मुंबई भक्त’ और ‘असली भूमिपुत्र’ साबित करने का अवसर वे बड़े लेखकों, कलाकारों को देना चाहते हैं। बड़े लेखकों, कलाकारों की ओर से पहल होनी अभी बाकी है।

इन ‘मुंबई भक्तों’ और ‘असली भूमिपुत्रों’ को यह तो बताना ही चाहिए कि वे किस अधिकार से अयोध्या में टाँग अड़ाते हैं। किस अधिकार से इस देश के ‘दूसरे’ हिस्से में सांप्रदायिकता का तांडव करते रहते हैं। वहाँ के लोगों के नागरिक अधिकार से इनके नागरिक अधिकार किस आधार पर अधिक हैं। सवाल तो यह भी उठेगा कि गाँव के लोगों के नागरिक अधिकारों के लोगों के नागरिक अधिकार किस आधार पर और किस अर्थ में कम हैं। ध्यान रहे यह देश बहुत बड़ा है। इसकी बुनवाट के ताना-बाना को छेड़ा जायेगा तो और भी कई तरह के बखेड़े खड़े हो सकते हैं। कहनेवाले कहते हैं कि भारत एक बड़ा देश ही, नहीं बड़ा बाजार भी है। भारत को बाजार कहनेवालों के जेहन में मुंबई ही नहीं हुआ करता है। कहीं ऐसा न हो कि देश के ‘दूसरे’ हिस्से के ‘भूमिपुत्र’ मुंबई और महाराष्ट्र से उत्पादित उपभोक्ता सामग्रियों एवं अन्य उत्पादों के बहिष्कार का मन बनाने लग जायें। यह बड़ा ही विकट होगा।

भूमंडलीकरण विकास और पूँजी के अतिकेंद्रण को जन्म देता है। केंद्र में हर किसी को समायोजित करने की क्षमता नहीं होती है। जो समायोजित नहीं हो पाते हैं, वे अपने लिए नये केंद्र के निर्माण में जुट जाते हैं। इस नये केंद्र के निर्माण का ही दूसरा नाम है, स्थानीयकरण। इसलिए, भूमंडलीकरण का स्वाभाविक प्रतिफलन स्थानीयकरण है। पुराने केंद्र और नये केंद्र में तनाव और टकराव बढ़ता है। इसलिए भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्र-राज्य की विभिन्न सामाजिकताओं के संरक्षण के लिए आंतरिक संतुलन की बहुत जरूरत होती है। आंतरिक संतुलन, भौतिक विकास के क्षेत्र में। आंतरिक संतुलन मानव विकास के क्षेत्र में। आंतरिक संतुलन उत्पादन और उपभोग के अवसरों के वितरण और विकेंद्रण के क्षेत्र में। एक कुशल और सचेत राजनीतिक प्रबंध ही परिश्रम से इस संतुलन को बनाये रखने में कामयाब हो सकता है। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' में इस संतुलन के प्रति न चेतनशीलता होती है और न ही किसी प्रकार की संवेदनशीलता ही होती है। इसलिए 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' भूमंडलीकरण के इस स्वाभाविक प्रतिफलन को और अधिक विषैला बनाता है।

सोचने की बात यह है कि जो वर्ग गाँव में अन्न उपजाता है, उसी वर्ग का कोई सदस्य शहर में दुख काटकर भी जीने के लिए अपना पैर जमाने की कोशिश करता है। महानगर के 'महानागरिकों' की सेवा करते हुए अपनी पूरी उम्र खपा देता है। कोई शहर या महानगर अपने राष्ट्र-राज्य से विच्छिन्न नहीं हो सकता है। महानगरों की स्थितियाँ अने राष्ट्र-राज्य की स्थितियों, चाहे वह राजनीतिक हो, आर्थिक हो सांस्कृतिक ही क्यों न हो, से पूर्ण विमुक्त और बिल्कुल अलग नहीं हो सकती हैं। महानगरों को बेहतर बनाना हो तो मुल्क को बेहतर बनाने की बात सोची जानी चाहिए। मुल्क विपन्न रहे तो महानगर संपन्न नहीं हो सकता है। आज बहुराष्ट्रीयता की बयार बह रही है। विदेशी

नागरिकता प्राप्त कर चुके भारतीय मूल के संपन्न लोगों को दोहरी नागरिकता प्रदान करने पर गंभीरता से विचार हो रहा है। देश में उनके आगमन और अगवानी के लिए तैयारी चल रही है। जाहिर है, जो संपन्न हैं वे कई देशों की नागरिकता का अधिकार पा सकते हैं। जो विपन्न हैं उनके लिए अपने देश की भी वास्तविक और व्यवहार्य नागरिकता और नागरिक अधिकार दुर्लभ हैं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि नगर में रहनेवाले लोग ही तो 'नागरिक' हैं! जो नगर का है उसी के लिए नागरिक अधिकार सुरक्षित होते हैं! नागरिक को उर्दू में 'शहरी' और अंग्रेजी में 'सिटीजन' कहा जाता है। उपनिवेशन की बाहरी प्रक्रिया का आत्म-उपनिवेशीकरण की अंदरूनी प्रक्रिया से भी गहरा संबंध होता है। कितना भयावह है यह सोचना कि बाहरी उपनिवेशन की चपेट में आता जा रहा हमारे राष्ट्र का बड़ा हिस्सा अपने महानगरों के भी उपनिवेश बनने की दिशा में तेजी से अग्रसर हो रहा है। संतोष की बात यह है कि कोलकाता, चेन्नई और दिल्ली में अभी इस तरह का कोई अभियान उस रूप में उठान पर नहीं है। डर की बात यह है कि 'क्रिया की प्रतिक्रिया भी होती ही है'। पता नहीं महानगरों पर दबाव के बहाने आये 'असली भूमिपुत्रों' का यह उछाल आगे चलकर क्या गुल खिलायेगा।